

श्रीमद्भगवद्गदनवैश्वानरावतारश्रीवल्गाचार्यमहाप्रभुपूज्यपादप्रणीतम् विवेकधैर्याश्रयनिरूपण

श्रीश्यामलसुत श्रीव्रजराजचरणविरचिता विवृतिः ।

अनुवादक : श्री हरिशंकर शास्त्री, मी. शा. वे. वि. M.R.A.S.

यत्प्राप्तिमात्रतो नूनं रतिः स्याद् गोकुलाधिपे ।

स श्रीमदाचार्यपादरेणुर्मह्यं प्रसीदतु ॥१॥

जिसकी प्राप्ति से ही गोकुल के अधिपति श्रीकृष्णचन्द्र में निश्चय रति होती है वह श्रीमहाप्रभुजी के चरणारविन्दका रेणु मुझ पर प्रसन्न होवे ।

श्रीमदाचार्यचरणों ने तत्त्वदीपनिबन्ध में वेदप्रतिपादित कर्म, ज्ञान एवं भक्तिमार्ग का भलीभाँति विवेचन किया है, तथापि कलियुग में वे दुःसाध्य हैं, अतः उनके अनुसार आचरण करने में जीव असमर्थ हैं, ऐसा जानकर संक्षेप से शरणमार्ग का अपने चित्त में विचार किया । निबन्ध में 'जगन्नाथे विडुले च' (सर्व ० २५३) इत्यादि कारिका से जो प्रपत्ति-शरण-वर्ग का * उपदेश किया है, उसी का विस्तृत विवेचन करते हुए पूर्वोक्त तीनों मार्गों का यह शरणमार्ग उपकारक है ऐसा बोध कराते हुए श्रीमदाचार्यचरण विवेक एवं धैर्य से आश्रय की सिद्धि होती है, ऐसा बोध कराने के हेतु आश्रय के साधनरूप विवेक एवं धैर्य की रक्षा करने की आज्ञा देते हैं । अथवा यों कहिये कि विवेक एवं धैर्य रक्षा की आवश्यकता का प्रथम श्लोक से बोध कराते हैं :-

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाऽऽश्रयः ।

विवेक एवं धैर्य की निरन्तर रक्षा करना चाहिये । उस प्रकार रक्षा करे कि जिससे आश्रय सिद्ध हो ।

रक्षा की आवश्यकता

विवेक एवं धैर्य की रक्षा करना आवश्यक है । आवश्यकता को दिखाने के

* एकाकी, निःस्पृह एवं शान्तचित्तवालापुरुष श्रीकृष्ण में तत्पर होकर पर्यटन करे, अथवा गृहधनादि का त्याग करे, अथवा उन का श्रीकृष्ण की सेवा में विनियोग करे, तथा श्रीभागवत के पाठ में तत्पर रहे इत्यादि विविध प्रकार बताकर भगवत्परायण होने को कहा गया है । 'जगन्नाथे' इत्यादि वाक्यों में कहा है कि, यदि इस प्रकार से भी प्रपत्ति प्राप्त न हो, तो श्रीजगन्नाथजी, श्रीविडुलनाथजी, श्रीरङ्गजी आदि स्थानों में जहाँ कि पूजाप्रवाह सिद्ध हो सके, वहाँ, अर्थात् भगवत्सन्निधि में अन्याश्रय रहित होकर रहे । इस प्रकार प्रपत्ति-शरणमार्ग का बोध कराया है । इसी का विवेकधैर्याश्रयग्रन्थ में विस्तार है ।

लिये ही आचार्यचरणों ने मूल में रक्षणीय शब्द की योजना की है । इनका रक्षण करने की आवश्यकता है, अतएव निरन्तर रक्षा करने को कहा है । इससे समझना चाहिये कि आश्रय के अनन्तर भी इनकी रक्षा उचित रूप से की जाय ।

रक्षण का लक्षण

रक्षण शब्द का लक्षण है- "उसके नाशक का निवारण करते हुए उसका पोषण करना" यही अर्थ प्रायः सब सम्प्रदायिकों ने स्वीकृत किया है, अतः उसी के (विवेक और धैर्य के) अनुसन्धानपूर्वक तदनुकूल कृति करनी उचित है ।

इस प्रकार निरन्तर विवेक एवं धैर्य की रक्षा करने से आश्रय सिद्ध होता है । अथवा, यों कहिये कि उनकी रक्षा उस प्रकार की जाय कि जिस से आश्रय सिद्ध हो । मूल में 'तथा' शब्द का प्रयोग है । यत् और तत् शब्द का नित्य सम्बन्ध है, अतः यहाँ (सिद्धयेत्) क्रियापद का अध्याहार करना उचित होगा । आश्रय का सिद्ध होना जीव के अधिकार में नहीं है । प्रभु प्रसन्न होकर आश्रय का दान करते हैं, तभी वह सिद्ध होता है । इसी हेतु से मूल में विवेक एवं धैर्य के साथ आश्रय को न लिखकर पृथक् उल्लेख किया है । श्रीसुबोधिनीजी में भी अकूरस्तुति के प्रसङ्ग में कहा है कि "भगवन् ! आप जब कृपाकर अपने अङ्गीकाररूपी व्रत को स्वीकार करें, तभी मेरे समान जीव आपके चरण में शरण हो सकते हैं । मैं निःसाधन हूँ, साधन करने में असमर्थ हूँ, तथापि दीनता से आपके चरण में शरण प्राप्त कर सका, यही आपका अनुग्रह है । असङ्गनों को दुर्लभ ऐसे आपके चरणारविन्द मेरे भाग्य में कहाँ ?"

आश्रय तभी होता है, जब भगवान् इस देहादि सङ्घातको योग्य बनावें, अथवा देहादि सङ्घातका त्याग करावें । देहादि सङ्घातका त्याग अथवा उसको योग्य बनाना जीव की कृति से परे है । यह तभी सम्भव है कि जब भगवान् का अनुग्रह हो । भगवान् का अनुग्रह होने से ही सत्पुरुषों की सेवा में रुचि, भगवान् के स्वरूप को जानने की इच्छा एवं समझने की तत्परता होती है, और यह अन्तिम जन्म भी तभी सिद्ध हो सकता है । अतएव तब सङ्घातों को अनुकूल बनाकर अथवा त्याग कराकर भगवान् ही जीव को शरण का दान करते हैं ।

अब हमको इस बात का भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि आश्रय का विवेक एवं धैर्य के साथ सम्बन्ध किस प्रकार का है ? इस विषय में सम्प्रदायिकों का मत निम्नलिखित है :-

(१) एक मत ऐसा भी प्रचलित है कि सिद्धयेत् इस क्रियापद का अध्याहार न करके वचन विपरिणाम कर रक्षणीय शब्द के साथ ही आश्रय का अन्वय करना उचित

है। अर्थात् विवेक और धैर्य की रक्षा करनी चाहिये तथा आश्रय की भी रक्षा करनी चाहिये। क्योंकि ये तीनों भी भक्तिमार्ग में समानरूप से उपयुक्त हैं। अतएव यहाँ तीनों का प्राधान्य समानरूप से है। जिस प्रकार घट बनाने में दण्डचक्रादि समानरूप से उपयोगी हैं, ठीक उसी प्रकार भक्तिमार्ग में विवेक, धैर्य एवं आश्रय समानरूप से उपकारक होने से यहाँ तीनों का प्राधान्य समानरूपेण समझा जायेगा।

(२) कितने ही टीकाकार कहते हैं कि यहाँ विवेक और धैर्य को एक पद में कहा है तथा आश्रय का पृथक् उपन्यास किया है, अतः यह समझना चाहिये कि विवेक एवं धैर्य आश्रय में कारण हैं। अर्थात् विवेक एवं धैर्य से ही आश्रय सिद्ध होता है।

(३) कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि विवेक, धैर्य और आश्रय इस प्रकार क्रम से तीनों का उपदेश किया गया है। अतः समझना चाहिये कि सेवा में तीनों की उपयोगिता है। सबसे प्रथम विवेक की उपयोगिता है और इसके अनन्तर धैर्य की। आश्रय तो इन दोनों का निर्वाहक है।

सिद्धान्त

यद्यपि उपर्युक्त तीनों मत योग्य हैं, तथापि समाप्ति में आश्रय को ही फलरूप कहा गया है और उपर्युक्त तीनों के मत में भी आश्रय को ही मुख्य माना है, अतः 'सिद्धयेत्' इस क्रिया का अध्याहार भी निर्दोष है। अध्याहार करने से गौरव नहीं है। वचनविपरिणाम से 'रक्षणीय' के स्थान में 'रक्षणीयः' करने और सहोक्तिरूप अनुषङ्ग मानने में भी समान ही गौरव है।

साथ ही इस बात को भी ध्यान में रखना उचित है कि श्रीमदाचार्यचरण का नाम "पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा" है। अर्थात् आपश्री पृथक्शरणमार्ग का उपदेश करनेवाले हैं। यह नाम तभी सार्थक हो सकता है जबकि आश्रय को स्वतन्त्रफलरूप माना जाय। निबन्ध में आश्रय का सङ्क्षेप से निरूपण किया गया है और श्रीसुबोधिनीजी के अन्यान्य प्रसङ्गों में भक्तिमार्ग में उपकार होनेसे प्रपत्ति-शरणमार्ग का आनुषङ्गिकरूप से व्याख्यान है, स्वतन्त्र रूप से नहीं, अतः श्रीमहाप्रभुजी का नाम 'पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा' उपयुक्त न हो सकेगा। आश्रयको फलरूप मानने से ही यह नाम सार्थक होता है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आश्रय को भक्ति का अङ्ग माना गया है, उसमें बाधा उपस्थित होगी। क्योंकि आश्रय भक्ति में उपकारक होने से गौणी लक्षणा से उसको फलरूप भक्ति का साधन माना है। भक्तिमार्ग शरणमार्ग से भिन्न नहीं है। क्योंकि "पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद" ग्रन्थ में

"भक्तिमार्ग के कहने से यह पुष्टिमार्ग है" ऐसा कहा है। अतएव दोनों एक ही हैं। किन्तु स्मरण रहे कि शरणमार्ग प्रवाहमार्ग से तो भिन्न ही है। जिस को आश्रय सिद्ध हो गया है, वह निरन्तर भगवान् ही का स्वामित्व स्वीकार करता है, इससे स्पष्ट होता है, कि प्रपत्तिमार्ग मर्यादामार्ग से भी भिन्न है। और पुष्टि में संकीर्ण-मिश्र है। पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद ग्रन्थ में भेद प्रयोजक पुष्टि एक ही होने से मिश्र भेदों में आश्रय का मिश्रत्व नहीं कहा गया है। इसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ की समाप्ति में "कलौ भक्त्यादि मार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः" कलियुग में भक्त्यादि मार्ग दुःसाध्य हैं, ऐसा कहा है। अतः मानना पड़ेगा कि आश्रय को कर्म, ज्ञान एवं भक्ति में अनुकल्प, प्रतिनिधि, अथवा गौणकल्प कहा है। अतः यह आश्रय पूर्वोक्त तीनों प्रकारों से भिन्न स्वरूप का होने के कारण, कर्म, ज्ञान एवं भक्ति का सजातीय होने पर भी भक्त्यादिमार्ग का फलसाधन द्वारा उपकारक है। उपर्युक्त अनुकल्प प्रकार श्रीमदाचार्यचरणोंने श्रीमद्भागवत के स्कं. १ अ. ६ श्लो. २६ में तीन प्रकार के तामस, राजस एवं अविद्यारूप कषायों को दूर करने के अर्थ क्रमशः कर्म, ज्ञान एवं भक्तिमार्ग बताये हैं। इन तीनों मार्गों में अधिकार भिन्न भिन्न प्रकार का होने के कारण एक जीव को एक ही समय में एक साथ तीनों मार्गों का अनुसरण करना अशक्य होने के कारण, इन तीनों में से एक का ही अनुकल्प करना उचित है। अर्थात् तीनों मार्गों में से स्वाधिकारानुसार किसी एक का ही जीव के लिये अनुसरण करना उचित होगा। इसी प्रकार अनुकल्पका वर्णन किया गया है। यदि सब प्रकार अशक्य हों, तो आश्रय ही करना योग्य है।

आश्रय का अधिकारी कौन है ?

आश्रय का अधिकारी विरक्त होना चाहिये। तथापि श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने श्रीमुख से गृहस्थाश्रमी अर्जुन को "अथ तदप्यशक्तोऽसि" तथा "सर्वधर्मान् परित्यज्य" इन वाक्यों में प्रपत्ति अथवा शरणमार्ग का उपदेश किया है। अतएव गृहस्थ भी प्रपत्तिमार्ग का अधिकारी है। एकमात्र विरक्त को ही आश्रय का अधिकारी नहीं कह सकेंगे। "अनुकूल पदार्थ उपकारक भी है" ऐसा पूर्वकाण्ड का न्याय है। यहाँ इतनी विशेषता है कि पूर्वमीमांसा में अनुकूल को केवल फलोपकारक कहा है और यहाँ आश्रय स्वरूपोपकारक एवं फलोपकारक है। अतः यदि न्यायदृष्टि से देखा जाय तो पूर्वटीकाकारों से हमारा मतभेद दृष्टिपथ न होगा। जिनको जैसी स्फूर्ति हुई, वैसा उन्होंने अपना मत प्रतिपादन किया है।

निबन्धोक्त आश्रय का विस्तार

यह आश्रय निबन्धोक्त प्रपत्तिमार्ग का ही विस्तार है, ऐसा किस आधार पर समझना चाहिये ?

निबन्धीय सर्वनिर्णय प्रकरण की कारिका में कहा गया है, कि जगन्नाथ आदिस्थानों में जहाँ पूजाप्रवाह हो, वहाँ जाकर निवास करे। इस आज्ञा से भगवान् के समीप रहने का आशय स्पष्ट होता है। तात्पर्य यह कि श्रीजगन्नाथादि स्वरूपों में तत्पर रहने का ही नाम शरणमार्ग वा प्रपत्तिमार्ग है। परन्तु निबन्धीय कारिका में भगवत्परत्वका विचार नहीं किया है, उसीका इस ग्रन्थ के द्वारा सविस्तर विवेचन करके आश्रय का समर्थन करते हैं।

प्रपत्तिशब्द का अर्थ है शरण होना। जरासन्धने जिन राजाओं को रोक रक्खा था उन्होंने भगवान् का शरण स्वीकार करते हुए प्रार्थना की है कि "हे कृष्ण ! कृष्ण ! अप्रमेयात्मन् ! हे शरणागत के भय को दूर करनेवाले प्रभो ! हम आपके शरण में आये हैं। क्योंकि आप शरणागत के भय को दूर करनेवाले हैं, हम एक जरासन्ध के ही भय से मुक्त होने की इच्छा से नहीं आये हैं, किन्तु हम को संसार से भी भय लगता है, अतः हमको आप संसार के भय से भी मुक्त करिये। पृथक् बुद्धिवाले बहिर्मुखों को संसार में भय होता है, उससे बचने के लिये हम आपके चरणों में शरण हैं।" इन वाक्यों की सुबोधिनी में शरणगमन का पर्यायवाचक शब्द प्रपत्ति का प्रयोग किया गया है। अतः कहना चाहिये कि निबन्धोक्त मार्ग का ही इस ग्रन्थ में विस्तार है।

अब हम प्रस्तुत विषय का विचार करते हैं। उपर्युक्त प्रकार से विवेक की रक्षा के लिये आज्ञा दी तथा विवेक और धैर्य का फलसम्बन्ध बताया। अब विवेक एवं धैर्य की रक्षा का प्रकार तथा आश्रय, शरणमार्ग एवं उसके स्वरूप को कहने से पूर्व उद्देशानुसार सर्व प्रथम विवेक का स्वरूप कहते हैं :-

विवेकस्तु हरिः सर्व निजेच्छातः करिष्यति ॥१॥

विवेक उसीका नाम है कि सर्व दुःखहर्ता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निजेच्छासे ही सर्व लौकिक और अलौकिक कार्य करेंगे, इस प्रकार मन में विचार करना और मुख से उच्चारण करना।

विवेक तो यही है कि सर्व कार्यों में भगवान् की इच्छा के अधीन रहकर सन्तोष करे। यहाँ साम्प्रदायिक विद्वानों का अभिप्राय है कि "विवेकोऽयं समाख्यातः " "एतत्सहनमत्रोक्तम्" "एवमाश्रयणं प्रोक्तम्" इन उपसंहार वाक्यों

को देखने से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ में सामान्य विशेषभाव से इनका स्वरूप मात्र कहा गया है, इस ग्रन्थ का नाम भी "विवेकधैर्याश्रयनिरूपण" है, उसका भी वही अर्थ निकलता है। अतः इस ग्रन्थ में इनका स्वरूप मात्र कहा गया है ऐसा मानना अनुचित न होगा। और यदि ऐसा ही माना जाय तो विवेकादि की रक्षा का जो प्रकार दर्शाया गया है, उस की सिद्धि पूर्वश्लोकार्ध से ही मान लेनी उचित है।

विवेक शब्द का अर्थ

विवेक शब्द का अर्थ है पृथक् करना अथवा उसका ज्ञान प्राप्त करना। यथा नित्यानित्यवस्तुविवेक। कभी कभी विवेक शब्द का उपयोग स्वभाव के अर्थ में भी किया जाता है। उचित सत्कार करनेवाले को विवेकी कहा जाता है। और विवेक शब्द का अर्थ जलद्रोणी, विचार और एकान्त भी होता है। हमको यहाँ उक्त रूढ अर्थों से प्रयोजन नहीं है। किन्तु इनसे भिन्न ही परिभाषा करनी होगी। यहाँ विवेक शब्द की परिभाषा इस प्रकार की गई है, तु शब्द अन्यव्यावर्तक होने से यहाँ विवेक शब्द से सर्वदुःखहर्ता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निजेच्छा से ही हमारा सर्वप्रकार लौकिक एवं अलौकिक कार्य सम्पादन करेंगे यही विवेक शब्द का अर्थ विवक्षित है।

हरि शब्द का अर्थ

भगवान् को हरि कहा जाता है। क्योंकि वे भक्तों के सर्वदुःखों के हर्ता हैं। स्वकीय भक्तों का ऐहिक एवं पारलौकिक सर्व कार्य निजेच्छासे-स्वतन्त्रेच्छासे-लीलेच्छा से अथवा निज जनों की इच्छा से करते हैं। यही विवेक का स्वारस्य है। इसी प्रकार विवेक बुद्धि का अनुसन्धान करना उचित है। हरि (भगवान्) गजेन्द्र को मोक्ष देनेवाले हैं। गजेन्द्र जैसे अज्ञ पशु योनि के जीवों के भी दुःखों को हरते हैं। यही रहस्य 'हरि' पद से स्पष्ट होता है।

भगवान् निजेच्छा से ही सर्व कार्य करते हैं। क्योंकि यह जगत् भगवान् की क्रीडास्थली है। 'क्रीडाभाण्डमिदं विश्वम्' यह विश्व भगवान् का क्रीडाभाण्ड अर्थात् रमणस्थल है। क्रीडा के लिये ही इस जगत् की रचना की गई है। 'निज' शब्द तदीयत्वका बोधक है। अज्ञानी भक्त जगत् को भगवान् का क्रीडाभाण्ड नहीं समझ सकेगा, तथापि भगवान् भक्त का कल्याण ही करते हैं। जो भगवान् इस विश्व के स्थिति, लय और प्रादुर्भाव का कारण है, जो भगवान् योगीश्वरों को भी अगम्य मायावाला है, तथा जो तीनों (ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर) देवों का अधिपति है, वह भगवान् हमारा कल्याण करेगा। इस प्रकार अनुसन्धान करने से भक्त को विवेक का स्वरूप ज्ञान होता है। यदि इससे भी अधिक तदीयत्व की स्फूर्ति हो तो भगवान्

उस प्रभु के अधीन होकर रहते हैं। "मैं भक्तों के अधीन हूँ" "भक्त मेरे में हैं और मैं भक्तों में हूँ" "आत्माराम भगवान् ने भक्तों के लिये ही रमण किया" इत्यादि वाक्य भी भगवान् की भक्ताधीनता को दर्शाते हैं। भगवान् भक्तों का परोक्षहित करते हैं, भगवान् भक्तों के समीप निरन्तर रहते हैं, अपनी स्वरूपमर्यादा का भी उल्लङ्घन करके भक्तों की अभिलाषा पूर्ण करते हैं। अधिकारानुसार भक्तों का भावी हित भी भगवान् ही करते हैं। भक्तों के और भगवान् के इस प्रकार के सम्बन्ध का निरन्तर स्मरण करना ही विवेक है। भगवान् भक्त का सर्व कार्य सम्पादन करेंगे, भावी अर्थचिन्ता दूर करेंगे। अतीत और वर्तमान चिन्ताओं को दूर करनेवाले वे ही थे, हैं, इस प्रकार विचार करना ही विवेक है ॥१॥

इस प्रकार विवेक का स्वरूपनिरूपण किया। अब उसकी रक्षा का प्रकार कहने से पूर्व कामनाओं की पूर्तिका साधन तथा कामनाओं के नाश करने का विचार किया जाता है। गजेन्द्र एवं ब्रजभक्तों की प्रार्थना के अनुसार प्रार्थना भी करना बाधक है, ऐसा विचार कर उनसे रक्षा करने के लिये प्रार्थना का फलव्यभिचार दर्शाते हैं -

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥२॥

प्रार्थितवस्तु प्रदान करने की स्वामी की इच्छा है या नहीं इस अभिप्राय का संशय होने से प्रार्थना करने पर भी उस प्रार्थना से क्या होगा ? क्योंकि सर्वत्र उस भगवान् का वस्तुमात्र है, और उसी का सर्व प्रकार से सामर्थ्य है।

मान लिया जाय कि भक्त भगवान् से प्रार्थना करे। किन्तु प्रार्थित वस्तु प्रदान करने की इच्छा है या नहीं, इसका निर्णय न कर सकने से उस को प्रार्थना से भी क्या लाभ ? गजेन्द्र को भगवान् ने मोक्ष प्रदान किया, वह उसकी प्रार्थना से नहीं, किन्तु अपनी इच्छा से। यदि प्रार्थना से ही मोक्ष प्राप्त होता, तो उस को पूर्व जन्म में ही प्राप्त होना चाहिये था। क्योंकि गजेन्द्र मोक्ष के प्रसंग में कहा है कि "वह पूर्वजन्म में पढा हुआ परम मन्त्र का जाप करने लगा" इस वाक्य से ज्ञात होता है कि यदि प्रार्थना से ही इष्ट वस्तु की प्राप्ति होती हो तो उस को पूर्व जन्म में ही मोक्ष का प्राप्त होना वास्तविक था, किन्तु वैसा नहीं हुआ, इससे सिद्ध होता है, कि भगवान् प्रार्थना से मोक्ष नहीं प्रदान करते, किन्तु विचारित मर्यादा की स्थापना करने के लिये भगवान् भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं, जगत् में ऐसा प्रसिद्ध करने के हेतु एवं भगवान् सर्वत्र विराजमान हैं, ऐसा दर्शाने के हेतु स्वेच्छा से मोक्षदान करते हैं,

न कि प्रार्थना से। ब्रजभक्तों को भी स्वेच्छा से ही फल दान किया। यदि प्रार्थना से फल प्रदान करने की इच्छा होती, तो "मुझे कन्धे पर घड़ा के ले जाइये" ऐसा सुनते ही भगवान् अन्तर्धान न हो जाते। क्वचित् प्रार्थना से भगवान् अपेक्षित फल प्रदान न करें, ऐसा माना जाय तो भी कालविलम्ब से और न्यूनाधिक फल प्राप्त होने से वह अन्यथा सिद्ध माना जायेगा। यदि यों कहा जाय कि प्रभु प्रार्थना करने से भी फलदान करते हैं, तो मानना पड़ेगा कि वह प्रार्थना भगवान् के फलदान करने के निश्चय के अनुसार ही की गई होनी चाहिये। संशयग्रस्त प्रार्थना व्यर्थ होती है। इस प्रकार विचार करने से भी ज्ञात होता है कि सर्वत्र भगवान् की इच्छा ही कारणभूत है। और प्रार्थना निमित्तमात्र है। यदि भगवान् को फलदान करने की इच्छा न हो, और प्रार्थना की जाय, तो भक्त की अधीरता को देखकर भगवान् को भी क्रोध होगा, और फलतः वे उस की उपेक्षा ही करेंगे। अतएव प्रार्थना को बाधक समझना उचित है। यहाँ प्रार्थना के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह संशयकालीन प्रार्थना के विषय में समझना चाहिये।

जीव अणु होने से अल्पज्ञ होने से - उसके मनोरथ अल्प ही होते हैं, अतः कुब्जा की तरह प्रार्थना करने से भी अल्पफल ही प्राप्त होगा। और अल्पफल के प्राप्त होने से कुबुद्धि अधिक होगी। भगवान् अलौकिक होने से अप्रार्थित वस्तु अधिक परिमाण में प्रदान करते हैं और जिस प्रकार श्रुतिओं को मनोरथ से उपरान्त फल प्राप्त हुआ, उसी प्रकार भक्त भी मनोरथोपरान्त प्राप्त कर सकेगा। अतएव हमें भी कहना पड़ेगा कि संशयग्रस्त प्रार्थना करने से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होगी। यदि प्रार्थना की भी जाय तो भी विवेक के सामर्थ्य का नाश होगा, अतः प्रार्थना न करना ही अच्छा है। इस प्रकार बाधक का विचार कर के विवेक की रक्षा करनी चाहिये। उपर्युक्त प्रकार से समझ सकेंगे कि कामनाओं की पूर्ति के लिये भगवान् के अतिरिक्त अन्य साधन नहीं है। इस प्रकार प्रार्थना ही निष्फल है, तो काम्यकर्मों की निष्फलता के विषय में क्या कहा जाय ? काम्यकर्मों के फल का व्यभिचार होने से और उससे विपरीत अनिष्टकारक परिणाम उपस्थित होने से विदुर ने भगवान् से पूछा था कि "लोक सुख के अर्थ कर्म करते हैं। परन्तु उससे सुख और शान्ति प्राप्त नहीं करते। इस से विपरीत अधिक दुःख भोगते हैं, अतः भगवन् ! कृपा कर मेरे लिये योग्य आज्ञा करिये।"

यदि यथार्थ रीति से वैदिक कर्म करें तो उसका फल अवश्य प्राप्त होता है। उस के फल का व्यभिचार नहीं देखने में आता, ऐसा भी नहीं कह सकेंगे। क्योंकि

दक्षयज्ञादि की तरह कर्म सांगोपांग होना कठिन है। इसका विचार निबन्ध के "कर्मणो गहना गतिः" वाक्य में यथार्थ रीति से किया गया है। वहाँ से देख लेना उचित होगा।

निन्दावाक्यों से और कुब्जा आदि के उदाहरण से प्रार्थना की बाधकता होने पर भी, यदि भगवान् का अभिप्राय समझकर प्रार्थना की जाय, तो वह बाधक नहीं हो सकेगी, ऐसा समझकर अपनी-अभिलाषा को पूर्ण करने के हेतु भगवान् की प्रार्थना करनी ही चाहिये, यह धारणा भी-दोषमूलक है। क्योंकि भगवान् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में बाहर और भीतर बिराजमान है, और वस्तुमात्र के ऊपर उसी का स्वामित्व है, तथा यह जगत् उस का क्रीडाभाण्ड है। सर्वत्र सर्वप्रकार का सामर्थ्य भगवान् का ही दृष्टिपथ होता है। श्रुति भगवती आज्ञा करती है कि "भगवान् सर्वत्र है, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्व को वश में रखनेवाला और सर्व के ऊपर शासन करनेवाला है।" अर्थात् वे यदि फलदान करने की इच्छा करेंगे तो उनके सर्वज्ञ होने के कारण वे भक्तों की इच्छा को भी जान लेंगे, और उसी के अनुसार फल प्रदान करेंगे। यदि जीव में भगवद्दत्त फल को भोगने का सामर्थ्य का अभाव देखेंगे तो वे उस प्रकार सामर्थ्य भी प्रदान करेंगे। भक्त की अभिलाषा के अनुसार वे भक्तों के मनोरथों की पूर्ति करते हैं। "भक्तों के समीप भगवान् ने नृत्य किया," "भक्तों को भगवान् ने वैकुण्ठ का दर्शन कराया" इत्यादि वाक्य उपर्युक्त भक्ताधीनता के पोषक हैं। भक्ताधीन भगवान् भक्त को फलप्रदान न करें तो समझना चाहिये कि भगवान् की इच्छा नहीं है। इस प्रकार भगवान् का अभिप्राय समझने के पश्चात् प्रार्थना का अवकाश नहीं रहेगा। अतएव भगवान् के पास प्रार्थना न करना ही उचित ज्ञात होता है। ऐसा विचार करके ही श्रीगुसाईजी ने कहा है कि "जिस प्रकार हम भगवान् के हैं उसी प्रकार भगवान् भी स्वभावतः हमारे हैं, अतः हमको इसलोक की और परलोक की भी चिन्ता नहीं है।" इस प्रकार भगवान् कामनापूरक हैं ऐसा बताकर विवेक की रक्षा का प्रकार कहा है ॥२॥

गर्वत्याग

अब कामना से विवेक की रक्षा का प्रकार कहते हैं :-

अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावेनात् ।

में स्वामी के-श्रीकृष्ण के-अधीन हैं ऐसा मानकर अभिमान का त्याग करना चाहिये। अभिमान शब्द का रूढ अर्थ गर्व होता है। और यौगिक अर्थ* अपने को

* अभिल उभयतो वा योगाभिमाना ।

अन्यसे बड़ा मानना है। चित्त में बड़प्पन अथवा पूजनीय बुद्धि का उदय होना ही अभिमान है। लौकिक अलौकिक दोनों प्रकार के अभिमान एवं उनके साधनों का त्याग करना उचित जान पड़ता है। भक्त भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के अधीन है, इस पराधीनता का विचार कर के गर्व का त्याग करना चाहिये। कामना से ही चित्त में बड़प्पन अथवा पूज्य बनने की बुद्धि उत्पन्न होती है। अपने गुण, कुल एवं प्रशंसाओं पर अनुचित ध्यान देना ही गर्व कहाता है। इनका विचार करनेवालों में ही वैसी कामनाएं दिखाई देती हैं। यदि भक्त समझने लगजाय कि मैं भगवान् के अधीन हूँ, अभिमान करना व्यर्थ है, तो अभिमान की उत्पत्ति ही न होगी। जिन भक्तों को इस प्रकार विचार होता है उनके चित्त में स्वभावतः अभिमान उत्पन्न ही नहीं होता है। उन्नत होजाने के पश्चात् गर्व होता है। परन्तु विचार करना चाहिये कि जिस भगवान् की कृपा से मैं इस प्रकार उन्नत हो सका हूँ, वही भगवान् मेरा अन्य सर्व कार्य सम्पादन करेंगे। उत्कर्ष भी भगवान् के ही हाथों में है। अतः अभिमान को त्याग कर विवेक की रक्षा करना उचित है। भक्तोंमें दासभाव होने के कारण उनमें सहज ही अभिमान उत्पन्न नहीं होता, किन्तु दुःसङ्गादि से होता है। इस समय में स्वामी के अधीन हूँ, इस बात का स्मरण करना उचित है। किसी समय भगवान् स्वयं भक्ताधीनत्व को दर्शाते हैं तब, और कभी भक्त को सेवादि करने से भी अभिमान होना सम्भव है। परन्तु स्वामी के अधीन होने का स्मरण मात्र ही अभिमान की उत्पत्ति को रोकता है। भगवान् स्वतन्त्रेच्छावान् है, अतः यदि वे किसी समय शिक्षा-दण्ड करें तो भी स्वाम्यधीनत्व का स्मरण ही खेद नहीं होने देता है। यहाँ अभिमान के त्याग में हेतु स्वाम्यधीनत्व की भावना को बताया है, उस से देहाभिमान का त्याग करने का स्वारस्य प्रकट हो जाता है, तथापि स्वाम्यधीनत्व की भावना से देहाभिमान का भी सेवा में तथा शरणागति में बाधकत्व होने से त्याग करना उचित है। इस प्रकार विवेक की रक्षा का आन्तरप्रकार कहा है। २ १/२

अब बाह्य प्रकार कहते हैं। पूर्वोक्त रीति से गर्व का त्याग कर विवेक की रक्षा करने से विवेकसिद्धिज्ञापक, भगवदाज्ञारूप अवान्तर फल प्राप्त होता है। यदि यह आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा से विरुद्ध हो, तो "उभयतः पाशाश्चुन्याय" से गुरु और भगवान् की आज्ञा दोनों में से किसका आचरण किया जाय, इस शङ्का का समाधान करते हुए प्रयोजक विभाग से आज्ञा के स्वरूपविभाग और विषयविभाग से व्यवस्था देते हैं :-

विशेषतश्चेदाज्ञा स्याद् अन्तःकरणगोचरः ॥३॥

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा से भिन्न भगवान् की आज्ञा हो तो वह आज्ञा अभिप्राय पूर्वक है या नहीं ? केवल परीक्षा के लिये तो आज्ञा नहीं की गई ? इत्यादि का विचार करने के पश्चात् देह के लौकिक सम्बन्ध से रहित होकर आज्ञा का पालन करना उचित है । इस श्लोक में 'स्वामी के अधीन होने से' इस पद की योजना बारबार करनी चाहिये ।

भगवदाज्ञा का विचार करो

मैं स्वामी के अधीन हूँ, ऐसी भावनापूर्वक जो सेवा की जाय, और उसमें श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा की अपेक्षा अधिकता दर्शानेवाली, अथवा आग्रह को दर्शानेवाली, अथवा प्रतिदिन के नियम से विशेषता दर्शानेवाली पूर्वविलक्षण यदि भगवदाज्ञा हो, तो उसके प्रयोजक का विचार करना चाहिये । यह आज्ञा अन्तःकरण गोचर है या नहीं ? अर्थात् अभिप्रायपूर्वक आज्ञा की गई है या नहीं ? अथवा अन्तःकरण के किसी प्रसङ्ग के उद्देश्य से यह आज्ञा की गई है ? स्वप्न द्वारा अथवा अन्यद्वारा यह आज्ञा नहीं हुई है ? इत्यादि का विचार करना आवश्यक है । यदि यह आज्ञा अभिप्रायपूर्वक अन्तःकरण में प्रकाशित हुई है, और स्वप्नादि की आज्ञा के विषय में आज्ञा के प्रयोजक का विचार करना आवश्यक है । यदि आज्ञा देहसम्बन्धी है तो यह आज्ञा भगवान् ने अभिप्रायपूर्वक नहीं की है, किन्तु परीक्षार्थ की है ऐसा मानकर तदनुसार विशेष कार्यों का आयोजन न करना उचित होगा । परन्तु यह आज्ञा यदि सेवाविषयक है या प्रतिबन्धविनाशक है तो वह अभिप्रायपूर्वक की गई है, ऐसा मानकर तदनुसार कार्यों का आयोजन करना चाहिये । अथवा तीर्थदिशान्तरादि आज्ञा हो तो उसका भी पालन करना चाहिये ।

इस प्रकार बाह्य विवेक की रक्षा, आन्तरविवेक का आचरण एवं दोनों आज्ञाओं का विरोध परिहार किया गया है । इससे पूर्वोक्त सर्व योग्य ही है । क्योंकि पुष्टिमार्ग के अनेक प्रकार भगवदाज्ञा से ही प्रकट होते हैं । सर्व धर्मों का त्याग कर मेरे शरण में आ, 'हे उद्धव ! तू सर्व नोदना (प्रेरणा)ओं को छोड़कर मेरे शरण में आ, अखिल संशयादि को छोड़कर भगवान् का भजन करो' इत्यादि वाक्यों से शरणागति तथा सेवा को सिद्ध करना ही भगवदाज्ञा का तात्पर्य है । 'जो मेरा अनन्यभाव से भजन करते हैं, उनके योगक्षेम का मैं ही निर्वाह करता हूँ ।' इस वाक्य के अनुसार भगवान् ही सर्व प्रकार से निर्वाहक होने से भगवदाज्ञा में किसी प्रकार की शङ्का ही उपस्थित नहीं करनी चाहिये ॥३॥

दैनिक विषय से भिन्न प्रकार की भगवदाज्ञा होने के पश्चात् उस आज्ञा के

अनुसार यदि आचरण न कर सके और किसी प्रकार की आपत्ति उपस्थित हो जाय, तो क्या करना उचित है ? यदि आज्ञा का पालन किया जाय तो आपत्ति उपस्थित होती है, और यदि उसका पालन न करें तो आज्ञाभङ्ग होती है, इस प्रकार उभयतः पाशारज्जुन्याय के उपस्थित होने पर भक्तों को क्या करना उचित है उसका उपाय कहते हैं :-

आपत्तित्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ॥४॥

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।

विवेकोऽयं समाख्यातः,

जिन कार्यों में आपत्ति प्राप्त होती है वैसे अशक्य कार्यों को सम्पादन करने में आग्रह का त्याग करना उचित है । अनायास सिद्ध हो उतना ही कार्य करना चाहिये । देहसम्बन्धी तथा अन्य कार्यों में सर्वथा आग्रह का त्याग करे । और विहित तथा निषिद्ध कर्मों के परिणाम का विचार करना चाहिये । इस प्रकार विवेक की रक्षा का प्रकार कहा है ।

हठत्याग

"मैं स्वामी-भगवान्-के अधीन हूँ" इस प्रकार विचारकर जिन में आपत्ति हो वैसे अशक्य कार्यों को सम्पादन करने में अनाग्रहयुक्त होवे । क्योंकि भगवान् का अभिप्राय भक्तोंका निर्वाह चलाने का होता है, और यदि भक्त आग्रहपूर्वक किसी कार्य को सम्पादन करेगा तथा उस में आपत्ति आयेगी तो निर्वाह में भी प्रतिबन्ध उपस्थित होगा । अत एव यहाँ उपर्युक्त दोनों आज्ञाओं के तारतम्य का विचार करते हुए प्रतिबन्धक आज्ञा भगवान् को अभिप्रेत नहीं है, किन्तु यह आज्ञा परीक्षार्थ है, ऐसा समझना उचित होगा । "भक्तों के कार्य में कालादि भी प्रतिबन्ध नहीं कर सकते," इससे मानना पड़ेगा कि भक्तों के निर्वाह में आपत्ति करने की इच्छा भगवान् की नहीं है । भगवान् स्वयं कहते हैं कि "जिन्होंने लोकवेद के धर्मों को मेरे अर्थ त्याग किया है वैसे भक्तों को मैं स्वयं धारण करता हूँ ।" अर्थात् भक्तों की रक्षा भगवान् ही करते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि आपत्ति को उपस्थित करनेवाली आज्ञा भगवान् की आज्ञा नहीं है, किन्तु ऐसी आज्ञाएं परीक्षार्थ की जाती हैं । अत एव ऐसी आज्ञाओं के पालन करने का आग्रह न करना ही उचित है । यदि हठ किया जाय तो उस का परिणाम अनिष्टकारक ही होगा । अर्थात् सेवा में प्रतिबन्ध होगा । अत एव हठ का त्याग अवश्य कर्तव्य है । इस प्रकार आज्ञा के हेतु का विचार करने से अभिमान दूर होगा तथा विवेक की रक्षा भी होगी । हठ करने से विवेक का नाश

होगा। इस प्रकार हठत्याग का उपदेश कर विवेक की रक्षा का द्वितीय साधन कहा।

अब देहसम्बन्धी आज्ञा की व्यवस्था कहते हैं। देहसम्बन्धी तथा देह के सम्बन्ध से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य कार्यों में भी आग्रह न करना चाहिये। स्वतः सिद्ध अथवा अनायास सिद्ध कार्यों को ही होने देना चाहिये। परन्तु जिन कार्यों में सेवा का त्याग कर के प्रयास करना पड़ता है वैसे कार्यों के प्रति उदासीन रहना ही योग्य होगा। यही विवेक की रक्षा है। "मैं भगवान के अधीन हूँ" इस प्रकार विचार करने से ही बुद्धि में विवेक का प्रवेश होता है।"

मान लिया कि लौकिक कार्यों में आग्रह न करें। किन्तु वेदविहित कार्यों को तो वेदविधिरूप भगवदाज्ञा होने से उसमें आग्रह रखना उचित है या नहीं?

धर्म और अधर्म अर्थात् विहित कर्म तथा निषिद्ध कर्मों के परिणाम का विचार कर के इन की व्यवस्था करनी उचित है। यथा पौराणिक, स्मृत्युक्त, वैदिक, ये कर्म उत्तरोत्तर बलवान हैं। उसी प्रकार शारीरिक (देहिक), आत्मिक तथा भगवत्सम्बन्धी कार्य भी उत्तरोत्तर बलिष्ठ है। इन में भगवद्धर्म का जो पालन किया जाता है उस को बाधा न पहुँचाकर अन्य कार्य करने चाहिये। इस धर्म और अधर्म के विचार में भी "मैं स्वामी के अधीन हूँ" ऐसी बुद्धिपूर्वक विवेक की रक्षा करे।

इस प्रकार विवेचनपूर्वक विवेक दर्शाया है। यही सत्य विवेक है। इसके अतिरिक्त नहीं है। विवेक का विवेचन प्रमाण एवं युक्तिपुरःसर किया गया है ॥४॥

इस प्रकार विवेक का विवेचन कर अब क्रमप्राप्त धैर्य का निरूपण करते हैं :-

धैर्यन्तु विनिरूप्यते ॥५॥

त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।

तक्रवद्देहवद्राव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ॥६॥

अब धैर्य का निरूपण किया जाता है। मृत्युपर्यन्त सर्वतः निरन्तर आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीनों प्रकार के दुःखों को सहन करना चाहिये। धैर्य को सहन करने में छासवाली रानी के देह की भाँति, जडकी भाँति एवं गोपभार्याओं की भाँति भावना करनी चाहिये।

धैर्य

पूर्वोक्त प्रकार से विवेक की रक्षा में जिह्वा, उपस्थ आदि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के अर्थ धैर्य की आवश्यकता होने से उस समय धैर्य कह दिया है, पुनश्च यहाँ धैर्य का निरूपण किस लिये किया है? इसके उत्तर में कहना पड़ेगा कि विवेक का स्वरूप हृदयारूढ हो जाने के पश्चात् धैर्य आप ही आप सिद्ध हो जाता है, परन्तु

वह धैर्य के स्वरूप को यथार्थरीत्या समझे बिना अथवा उस की यथार्थ रीति से रक्षा के बिना धैर्य रहता नहीं है, अतः उसके स्वरूप को एवं उस की रक्षा के प्रकार को कहने की आवश्यकता है। वह इस प्रकार है - मृत्युपर्यन्त निरन्तर आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक-कायिक, वाचिक एवं मानसिक काल, कर्म, स्वभाव से होनेवाले धर्म, अर्थ, काम के सम्बन्धवाले तीनों प्रकार के दुःखों को सहन करना, उन की उपेक्षा करना, उन के परिहार के उपायों की योजना के बिना ही उनको भोगना (सहन करना), अनुभव करना, यही धैर्य है।

यहाँ शंका हो सकती है कि भगवद्भक्तों को आधिभौतिक दुःख नहीं होते, और न उनको कामादिजन्य दुःख ही हो सकते हैं; तो फिर वे इनको किस प्रकार सहन करें? इसका उत्तर इस प्रकार है-भगवान् भक्तों की परीक्षा के लिये कालादिको प्रेरणा करते हैं। तब भगवदाज्ञा का भंग होता है, इस भय से कालादिक बाधा करते हैं। क्योंकि "मेरे भय से वायु बहता है" इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है भगवान् का भय इनको भी है।

परन्तु पुनरपि शंका उपस्थित होती है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं उन को परीक्षा करने से क्या प्रयोजन? भगवान् भक्तों पर दया करते हैं, परीक्षार्थ भक्तों को दुःख देना क्या योग्य हो सकता है? इसका उत्तर यों है - ज्ञानमार्ग में सर्वज्ञत्वादि धर्म साधारणच्छा से भगवान् में प्रकट रहते हैं। किन्तु पुष्टिमार्ग में तो विशेष रमणेच्छा में रमणेच्छा के अनुसार ही करते हैं। अर्थात् परीक्षा में पुष्टिमार्ग की रीति से किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। अन्तरंग भक्तों की भी "आपका स्वागत हो, मैं आपका क्या प्रिय करूँ?" इत्यादि वाक्यों से परीक्षा की थी। द्वारकालीला में भी लोकरीति के अनुसार अन्तःपुर में रमण किया है। तथा "भक्त मुझ से अतिरिक्त अन्य को नहीं जानता, और मैं भक्त के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानता हूँ" इत्यादि वाक्यों से भक्तिमार्गीय रीति के अनुसार भगवान् भक्त से अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानते हैं। अतः समझना चाहिये कि भक्तिमार्ग में भगवान् बार-बार लोकरीति को दर्शाते हैं। इस लौकिक रीति से अब परीक्षा करना अनुचित नहीं है। अब भक्त को दुःख क्यों दिया जाता है इसका भी उत्तर सुन लीजिये। भगवान् भक्त को साक्षात् स्वरूप का दान करते हैं। साक्षात् स्वरूप के दान के लिये भक्त के धैर्य की परीक्षा करना आवश्यक है। जैसे बालक को पढ़ाने में ताडन "ताडन" नहीं है किन्तु परिणाम में सुख है। उसी प्रकार यह परीक्षार्थ दुःखदान भी "दुःख" नहीं है किन्तु स्वरूपदान में कारण होने से सुखस्वरूप है।

आधिभौतिक दुःख

धैर्य का स्वरूप कहकर दृष्टान्तपूर्वक उस की रक्षा का प्रकार कहते हैं। छासवाली राजा की भार्या के देह के समान भावना अपने देह में करनी चाहिये। राजभार्या की आख्यायिका इस प्रकार है :-

* एक रानी का किसी पामर पुरुष के साथ स्नेह हो गया। एक दिन उस ने रानी को अपने साथ देशान्तर में चलने को कहा। रानी ने संकेत किया कि वन में अमुक स्थान में मैं राजा को मारकर आऊँगी। तदनुसार वह उस वन में गया। इस रानी ने घर जाकर राजा का काम तमाम किया, और वन में पहुँचकर देखती है तो जारपति को सांपने काट खाया है। उसको मरा हुआ देखकर वह वन से निकलकर किसी नगर में पहुँची और इधर उधर भटकती हुई भाग्यवशात् वेश्या हो गई। इस अवस्था में अज्ञानवश अपने ही पुत्र के साथ रति की, जब इस बात का उसको ज्ञान हुआ तब वह पश्चात्ताप करके आत्महत्या करने के लिये स्मशान में गई और चिता में बैठ गई। किन्तु चिता का ताप सहन न कर सकने के कारण वहाँ से भागी तो एक गोप मिल गया, उसके साथ रहने लगी। और गोरस बेचकर आजीविका चलाने लगी। एक दिन कई गोपपत्नियों के साथ वह भी छास बेचने के लिये जाती थी। उस समय किसी अचिन्त्य विघ्न के उपस्थित होने पर सबकी मटकियाँ फूट गई उस समय और स्त्रियाँ शोक करने लगीं, तब वह हँसती रही। पूछने पर उसने अपना पूर्ववृत्तान्त कह सुनाया और कहा कि मैंने कई प्रकार के कष्ट उठाए हैं तो अब मैं छास के लिये क्यों रोने बैठूँ ? इस आख्यायिका से यह शिक्षा मिलती है कि जिस प्रकार उस गोपपत्नी ने स्वदेहपोषण का साधन (छास) के नष्ट होजाने पर दुःख सहन किया, पर शोक न किया, उसी प्रकार आधिभौतिक, लौकिक साधन में उपयोगी पुत्र, धन आदि का नाश होजाने पर भी शोक न करना चाहिये। और उसके परिहार का उपाय न कर के दुःख को ही सहन करना चाहिये। दुःख सहन करने के समय उपर्युक्त आख्यायिका स्मरण में रखनी चाहिए। वैष्णवत्व प्राप्त होने के पश्चात् गृह, धन आदि वस्तुओं का त्याग करना उचित है। निबन्ध में श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि "यदि गृहादि प्रतिकूल हों तो उसका त्याग करने में दोष नहीं है।"

अब दूसरा दृष्टान्त कहते हैं। यह देह किसका है ? आधान करनेवाले का,

* हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजङ्गदहं देशान्तरे विधिवशात् गणिकारिम् जाता ।
पुत्रं पति समधिगम्य चितां प्रविष्टा शोचामि (नि) गोपगृहिणि कथमद्यतकम् ॥

माता का, पितामह का, मातामह का, बलि का, यज्ञ का या अग्नि का ? इस प्रकार विचारने से देह साधारणतया अपना नहीं है, किन्तु अदृष्ट द्वारा हुआ है, अतः माता पिता आदि भी साधारण सम्बन्धी हैं। इस प्रकार चित्त में साधारणता का अनुसन्धान कर अभिमान का त्याग करे। यह दृष्टान्त भौतिक, कायिक, कर्मजन्य एवं आर्थिक दुःख सहन करने के लिये कहा गया है।

आध्यात्मिक दुःख

आध्यात्मिक दुःख को सहन करने में दूसरा दृष्टान्त कहते हैं। जैसे जडभरत को मुक्ति का साधन विद्यमान होने पर भी मृगशरीर प्राप्त होने पर जो दुःख हुआ वह तथा भ्रातृवर्ग, स्त्रीवर्ग का दुःख भद्रकाली के वरदान समय का दुःख और अन्त में रङ्गाणराजा की शिविका (पालकी) उठाने तक का दुःख सहन किया। उसी प्रकार भक्त भी आध्यात्मिक दुःख सहन करे। और उस समय जडभरत के दुःखों का स्मरण करे। लौकिक देह के पश्चात् सेवोपयोगी देह प्राप्त होने में विप्रयोग आदि दुःखों को सहन करने के लिये जडभरत के दुःखों की भावना करनी उचित है। भावना करने से यह तात्पर्य है कि यह दुःख दूर नहीं हो सकता अतः उसको दूर करने के लिये प्रयत्न न करे।

आधिदैविक दुःख

स्वाभाविक अर्थात् आधिदैविक दुःख सहन करने में गोपस्त्रियों का दृष्टान्त कहते हैं। मूल में गोपभार्याशब्द समूहवाचक है। यथा अन्तर्गृहगता गोपसीमन्तिनियों को भगवान् के विरह का दुःख सहन कर पुनरपि ध्यानप्राप्त परमात्मा के सान्निध्यसुख का अनुभव करने पापपुण्य की निवृत्ति होने पर निर्गुण देह प्राप्त करके परमात्मा को प्राप्त हुई। इसी प्रकार मैं भी प्रारब्ध आदि से उत्पन्न हुए दुःखों को सहन कर परमात्मा को प्राप्त करूँगा। इस प्रकार आधिदैविक दुःख को सहन करने के लिए गोपभार्याओं का अनुस्मरण करना उत्तम है ॥६॥

यहाँ एक बात विचारणीय रह जाती है, वह यह कि यदि यदृच्छा से ही दुःख का उपाय प्राप्त हो जाय तो भी दुःख ही सहन करना चाहिये, ऐसा कहा जाय तो दुराग्रह होकर विवेकहानि और आज्ञाभङ्ग होती है। दूसरी ओर से यदि अनायास प्राप्त उपायों से दुःख को दूर होने दिया जाय और स्वयं मौन ग्रहण करे, तो दुःख के अभाव में धैर्यहानि और आज्ञाभङ्ग होती है, ऐसी उभयतःपाशारज्जुवत् स्थिति में क्या करना उचित है ?

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ॥७॥

भगवदिच्छासे ही यदि दुःखनिवारण का उपाय प्राप्त हो जाय तो दुराग्रही न होवें । स्त्रीपुत्रादि एवं तटस्थों के आक्रमण को सहन करे । अर्थात् भगवदिच्छा से बिना किसी प्रकार के प्रयत्न से ही दुःख दूर होता हो तो फिर दुःख सहन कर धैर्य की रक्षा का दुराग्रह भी न करना ही उचित होगा । इस प्रकार दुराग्रह (निन्दित आग्रह) का त्याग करने से धैर्य की सिद्धि होती है । और भगवदिच्छा का अनुसन्धान होने से विवेक भी सिद्ध होता है । तात्पर्य यह कि विवेक और धैर्य ये दोनों आज्ञापूर्वक होने के कारण उभय आज्ञाओं का इस में उल्लङ्घन भी न होम्न ।

उपायों की योजना

अथवा इस प्रकार योजना करे । जडभरत की तरह अथवा गोपभार्याओं की तरह दुःख निवारण के उपाय भगवान् की ही इच्छा से प्राप्त होने पर दुराग्रह न करके उन उपायों की योजना करे । जडभरत ने भगवदिच्छा से रहूण राजा से सम्वाद होने पर शिबिका (पालकी) उठाने में आग्रह नहीं किया । इसी प्रकार रास में भी गोपीजनों ने विरहताप के समय में भगवदिच्छा से गुणगान, स्मरण एवं रूपदर्शन इत्यादि उपाय प्राप्त होने पर दुराग्रही न होकर भगवान् की इच्छा के अनुसार वर्तन किया । उसी प्रकार हम को भी स्वाधिकारानुसार दुःख निवर्तक उपाय की भगवदिच्छा से प्राप्ति होने पर आग्रही न होना चाहिये । तीव्र ताप (दुःख) के समय में शीघ्रता से आश्रय का दान करने के लिये स्वयं भगवान् ही दुःख दूर करने के उपायों को बताते हैं और क्वचित् नहीं भी बताते । अत एव भगवदिच्छा पर भी आधार करके स्वयं उन उपायों के लिये कुछ भी प्रयत्न न करे, तो भगवान् की अनिच्छा होने पर भी उपायों की योजना की जाय तो भगवान् की इच्छा के विरुद्ध होने के कारण कोप से विपरीत परिणाम भी उत्पन्न हो सकता है ।

अब कायिक रक्षा के साधन का उपाय कहते हैं । भार्या शब्द से यहाँ उस के गणसहित ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् भरण पोषण करने योग्य स्त्री आदि के अतिक्रमों को भी सहन करे । विभक्त एवं अविभक्त बन्धुओं के भी अतिक्रमों (अपमान) को सहन करना चाहिये । उसी प्रकार दुर्जनों के भी आक्रमणों को सहन करे । यहाँ असतः शब्द को भिन्न कहने से यह सूचित करते हैं कि भार्या बन्धु आदि की अपेक्षा दुर्जनों का अतिक्रमण दुःसह होता है । "मैं दुर्जन के आक्रमण को दुःसह मानता हूँ" इस वाक्य से उसकी दुःसहता निरन्तर होती है यह स्पष्ट करके बताया है ।

इन लोगों का तिरस्कार, भक्त को सहन करना ही चाहिये, इतना ही नहीं यदि वे लात भी मारें तो उसे भी सहन करे" । इस प्रकार तीनों (भार्यादि, अन्य एवं असत् अर्थात् दुर्जन) के आक्रमण को सहन करने को कहा है । यदि ये सेवा में प्रतिकूल हों तो उनका त्याग करे और तज्जन्य दुःख सहें । और यदि विवेक की रक्षा में ही बाधक हों, सेवा में बाधक न हों तो उनका तिरस्कार सहन करे । ऐसा ही प्रकार निबन्ध में भी बताया है । "भगवान् सर्व में बिराजते है, ऐसी श्रीकृष्ण-भावना से सर्व प्रकार के कटुवचनों को सहन करे" क्योंकि भगवान् स्वयं उसके हृदय में बिराजित होकर उस से तिरस्कारव्यंजक वाक्यों का उच्चारण करा कर हमको उपदेश देते हैं ॥७॥

इस प्रकार तिरस्कार को सहन करने का उपदेश घर में स्थिति करने के हेतु किया गया और घर में स्थिति करनेवाले को इन्द्रिय सम्बन्धी-कार्य अवश्य ही करने पड़ते हैं । इन्द्रियसम्बन्धी कार्यों को करने से अशक्ति (भगवद्भक्ति में असमर्थता) होकर धैर्यस्वरूप और सामर्थ्य का नाश होना संभव है । इस प्रकार धैर्य और सामर्थ्य का नाश न हो इसलिये धैर्यरक्षा का द्वितीय साधन बताते हैं-

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसात्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ॥८॥

इन्द्रियों के कार्यों को मनसा, वाचा, कर्मणा स्वयं ही छोड़ना चाहिये । स्वभाव और इन्द्रियों को जीतने में असमर्थ पुरुष भी अपनी असमर्थता का विचार करके उन कार्यों को त्याग दें, जिनसे कि इन्द्रियों का उत्तेजित होना सम्भव है ।

भक्त स्वयं ही आग्रहपूर्वक इन्द्रियों के कार्यों को जिनमें ज्ञानक्रिया प्रधान है ऐसे भोगों को भी मन, वाणी एवं कर्म से छोड़ दें । खेल में भी उनका स्वीकार न करे, क्योंकि इन्द्रियकार्य अत्यन्त बाधक है । "विषयों का ध्यान करनेवाले पुरुष को विषयों का सङ्ग होता है" गीता के इस वाक्य से उनकी बाधकता का स्पष्ट ज्ञान होता है । भोग्य पदार्थों का स्वीकार न करना कायिक त्याग है । निस्पृह होना मानसिक त्याग है । यहाँ ऐसी शङ्का भी न करनी चाहिये कि आग्रह पूर्वक त्याग करने से विवेक की हानि होगी । क्योंकि आग्रह का उपभोग्य वस्तुओं में ही समावेश हो जाने से विवेकभङ्ग न होगा ।

* यहाँ सहनशीलता का उपदेश किया गया है, न कि कायरता का । भक्त को भगवान् की इच्छा एवं आज्ञा का पूर्वोक्त प्रकार से विचार करना चाहिये । भगवान् यदि परीक्षार्थ दुःख दान करें और भक्त उसको सहन न कर सके तो धैर्यभङ्ग होता है । धैर्य का अर्थ हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाना नहीं है । ऐसा करना कायरता है । दुःख की अवस्था में क्या करना चाहिये इस का निर्णय आगे चलकर होगा ।

अब यहाँ शङ्का होती है कि मूल श्लोक में स्वयं भोग के साधनों का त्याग करने को कहा है। अर्थात् स्वयं ऐसा कोई प्रयत्न न करे, किन्तु यदृच्छा से (अनायास) जो प्राप्त हो जाय उसका त्याग न करना चाहिये ऐसा ज्ञान होता है। यदि अनायास प्राप्त होनेवाले भोग का त्याग किया जाय तो शरीर यात्रा का निर्वाह न हो सकेगा और साधन करने की शक्ति का नाश हो जायगा। और यदि भोगों का त्याग न किया जाय तो भोग विषयरूप होने से बन्धन करने का उनका स्वभाव इन्द्रियों को आकर्षित करता है। और विषयाकृष्ट इन्द्रियों से परिणाम में क्रमशः सर्वनाश का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। विषयों से बचने के लिये इस समय स्वभाव पर विजय प्राप्त करना भी अशक्य है। क्योंकि आरम्भदशा में इन्द्रियों के स्वभाव पर विजय प्राप्त करने की सामर्थ्य का अभाव रहता है। स्वभाव विजय यानी पराक्रम। पराक्रम शूरता का द्योतक है। अब ऐसी अवस्था में हमको किस प्रकार धैर्य की रक्षा करनी चाहिये ?

इसका समाधान निम्न लिखित प्रकार से हो सकता है। स्वभाव और इन्द्रियों को जीतने में असमर्थ पुरुष को भी असामर्थ्य भावना से इन्द्रिय के कार्यरूप भोगों का अवश्य त्याग करना चाहिये। मैं क्या करूँ ? मैं मन्दभागी हूँ, असमर्थ हूँ मुझसे इतनी सी आज्ञा का भी पालन नहीं हो सकता। इत्यादि प्रकार से भावना करते करते भोगों का त्याग अवश्य कर्तव्य है। इस प्रकार यत्न करनेवाले को ग्लानि होने से इन्द्रियों की तीव्रता शान्त होगी और क्रमशः स्वविषयों से आकृष्ट होने पर भी धैर्य की सिद्धि होगी।

यदि इतना भी न कर सके तो उसके लिये उपायान्तर का आयोजन करते हैं-

अशक्ये हरिरेवास्ति, सर्वमाश्रयतो भवेत्।

एतत्सहनमत्रोक्तम्,

इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना अशक्य होने पर भी सर्व दुःखों को हरनेवाले भगवान की ही शरण है ऐसा मानना चाहिये। क्योंकि शरण से ही सर्व कार्य सिद्ध होते हैं। इस प्रकार धैर्य का निरूपण किया गया है।

अशक्य भी सुशक्य होता है

इन्द्रियनिग्रह करने में जब असमर्थ हो जाय तब दयामय भगवान् के शरण का विचार करे। क्या शरण के उपदेश से ही सिद्धि होती है ? हाँ, अवश्य ही शरण से सिद्धि होगी। भगवान् के आश्रय से सब कुछ सिद्ध होता है। 'सर्वधर्मान्

परित्यज्य' इस वाक्य से भगवान् का शरण ग्रहण करने से वे सब प्रकार के पापों से बचाते हैं, साथ ही शोक के निवारणपूर्वक आश्रय से सब कुछ सिद्ध होता है।

इस प्रकार सपरिकर धैर्य का निरूपण करके उपसंहार में धैर्य के अनन्तर आश्रय का निरूपण करेंगे, यह सूचन करने के लिये 'इस प्रकार धैर्य कहा' ऐसा कहते हैं। शरणमार्ग में साधनपूर्वक धैर्य कहा। अर्थात् जब धैर्य की रक्षा करने में असमर्थ हो जाय तब भगवान् का ही शरण है, इस प्रकार आश्रय शरण धैर्य के प्रकरण में कहने से वह आश्रय भी धैर्यरूप ही है। यहाँ आश्रय का स्वरूप बताने में नहीं आया है।

अब क्रमप्राप्त प्रधानरूप आश्रय का निरूपण करते हैं। भगवान् की शरण जाने की आज्ञा से ही आश्रय के स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा। अतः पुनः सपरिकर आश्रय का निरूपण करते हैं। आश्रय का अर्थ है आधार। यह योगरूढ अर्थ है। आश्रय यानी सेवा। यह यौगिक अर्थ है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है। 'आ' आसमन्तात् 'श्रयणं' सेवनं अर्थात् "चारों ओर से सेवन करना"। यह आश्रय का पर्याय हुआ। इन दोनों में से यहाँ किस अर्थ का अनुसरण करना उचित है ?

आश्रयोऽतो निरूप्यते ॥९॥

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥१०॥

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥११॥

अहङ्कारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथाऽन्तेवास्यतिक्रमे ॥१२॥

अलौकिकमनः सिद्धौ सर्वार्थे शरणं हरिः।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥१३॥

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव वा।

प्रार्थनाकार्यमात्रेऽपि तथान्यत्र दिवर्जयेत् ॥१४॥

अविद्यासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकरस्तु सः।

ब्रह्मास्त्रघातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥१५॥

यथा कथञ्चित् कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ॥१६॥

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्।

अब आश्रय का निरूपण किया जाता है। इस लोकसम्बन्धी और

परलोकरसम्बन्धी सर्व प्रकार के दुःखों को हरनेवाले भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की ही शरण है। दुःखों को दूर करने के लिये तथा सेवा में जो प्रतिबन्धक हों उन में, भय में, लौकिक तथा अलौकिक काम के पूर्ण करने में, अथवा मनोरथों की पूर्ति न हो तो, भक्त का द्रोह हो जाने पर, भक्तों के द्वारा अपमानित होने पर, जीव की कृति से साध्य एवं असाध्य ऐसे सर्व कार्यों में सर्व प्रकार से भगवान् की ही शरण है। अहङ्कार हो जाने पर, स्त्रीपुत्रादि के भरणपोषण करने में अथवा इन के तिरस्कार करने पर मन को अलौकिक बनाने में तथा सर्व पुरुषार्थों को सिद्ध करने में भगवान् श्रीकृष्ण की ही शरण है, ऐसा चित्त में विचारे तथा वाणी से रटन करे। अन्य देव का भजन अथवा देवतान्तर के मन्दिर में चलकर न जावे। इतना ही नहीं परन्तु अन्यदेव की प्रार्थना भी न करे। भगवान् पर अविश्वास न करे, क्योंकि वह सर्वथा बाधक है। अविश्वास में ब्रह्मास्त्र एवं चातक पक्षी की भावना करनी (ब्रह्मास्त्र की आख्यायिका टीका में की जायेगी,) और अहन्ताममता का त्याग कर प्राप्त परिस्थिति के अनुसार आचरण करे। अलौकिक तथा लौकिक (व्यवहारोपयोगी) कार्यों को भी यथाशक्ति करे। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, यावत्कार्यों में श्रीहरि के शरण का ही विचार किया जाना चाहिये। इस प्रकार सबको सर्वकाल में हितकारी शरण (आश्रय) कहा है।

‘हरि’ और ‘शरण’ की व्याख्या

“मेरा स्मरण करनेवाले के पापों को मैं हरता हूँ, यज्ञ में हवि के भाग को ग्रहण करता हूँ, और मुझे रंग भी हरित ही प्रिय है, अतः मैं हरि कहलाता हूँ।” इस प्रकार महाभारत में भगवद्वाक्य होने से स्मरण करनेवाले के पापों को और पापों के फल को दोनों को हरनेवाले सर्व देवों के आत्मरूप, सब देवों के नियामक, स्वयं श्यामवर्ण श्रीपुरुषोत्तम ‘हरि’ हैं। ‘श्यामाच्छबलम्’ इस श्रुति में भगवान् को श्यामवर्ण कहा है। ऐसे श्यामवर्ण भगवान् इस जन्मसम्बन्धी कार्यों में, फलभोग में, अपने मन से इच्छित सेवादि साधनों में, दूसरे (आगामी) जन्म के सुखदुःख के फलोपभोग में, अपने मन से इच्छित सेवादि साधनों में, तथा सेवा के साधनों के सम्पादन करने में, सर्वथा यह श्रीहरि ही हमारी शरण है। शरण शब्द के रक्षक, घर तथा वधके समय रक्षा करनेवाला इतने अर्थ होते हैं। इन सब अर्थों का स्वरूप भगवान् ही है अर्थात् उन सब प्रमाणों में से (अनेक प्रकार की भूलों से) बचानेवाले भगवान् श्रीहरि श्रीकृष्णचन्द्र हैं। तत्तत्स्थलों में भगवान् गृहरूप हैं और तत्तत्प्रतिबन्धों से निवृत्त करते हैं। तत्तत्स्थलों में अर्थात् सर्व स्थान में भगवान् वध-नाश-से भी बचाते हैं।

इस प्रकार निरन्तर अनुसन्धान करना उचित जान पड़ता है। उसका नाम ही आश्रय है। अतः यहाँ पर चित्त की भगवान् में एकतानतारूपी सेवा को ही आश्रय कहा है। अन्य टीकाकारोंने भी “मेरा आश्रय लेकर जो यत्न करते हैं,” तथा “मेरा आश्रय लेकर पापयोनिवाले स्त्री, वैश्य तथा शूद्र भी श्रेष्ठ भक्ति को प्राप्त करते हैं।” इन वाक्यों में चित्त की एकतानतारूप अन्याश्रय के त्यागपूर्वक भगवच्छरणागति को ही आश्रय कहा है। श्रीरामानुजाचार्यजी ने भी “उसी के शरण जा” इस वाक्यानुसार भगवदनुवर्तन अर्थात् भगवदनुसरण को ही शरणागति मानी है। और शाङ्करभाष्य में तो “तू मेरी शरण आ जा” इस वाक्य से भगवान् से अतिरिक्त का अनुसन्धान न करना ही आश्रय है, ऐसा कहा है। श्रीमधुसूदनजी तो कहते हैं कि “मैं भगवान् का, भगवान् मेरे और मैं ही वह” ऐसे तीन प्रकार से साधन और अभ्यास के परिणाम से भगवान् की शरण है, ऐसा भक्तिपूर्वक अनुसंधान करने को आश्रय कहा है। यहाँ यही स्वीकृत है, किन्तु मायावादनिरासपूर्वक इस प्रकार का भाव अखण्डित रखना ही भगवान् के आश्रय के दान का द्योतक है। किसी समय इस अनुसंधान का विच्छेद हो जाय तो उस को साधन अवस्था समझनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मेरे रक्षक हैं इतना ही ज्ञान हो तो, अभी आश्रय होना शेष है ऐसा मानना चाहिये।

आश्रय की रक्षा करो

यही आश्रय अनुकल्परूप होता है, भक्ति के अधिकारियों की भक्ति को पोषण करनेवाला मानते हैं। तथा भक्ति को उत्पन्न करनेवाला, भक्तिमार्ग के पथपर चढ़ानेवाला भक्तिमार्ग में यही अनुकल्प है। इस प्रकार ज्ञान के अधिकारियों को ज्ञान में पोषण करनेवाला यह आश्रय ज्ञानमार्गीय भी होता है। इसी प्रकार कर्मफलरूप वैराग्य का पोषण करनेवाला यह आश्रय कर्ममार्गीय भी होता है।

इस प्रकार आश्रय के स्वरूप का निरूपण करके उसकी रक्षा का प्रकार भी कहते हैं। निम्न लिखित प्रसङ्गों में निरन्तर चित्त में श्रीहरि की शरण की भावना करनी चाहिये। दुःख-हानि में अर्थात् दुःख को दूर करने के लिये श्रीहरि के शरण का विचार करे। इससे दुःख हानि के लिये शरणागत जीव को भगवान् ने शरण का दान दिया है या नहीं, इस अज्ञात संशय से या जीवबुद्धि से उत्पन्न हुए दुःख को दूर करने के विषय में भी श्रीहरि के शरण की भावना करे।

श्रीरघुनाथचरण आज्ञा करते हैं कि दुःख की निवृत्ति करने में भगवान् का आश्रय भूलना न चाहिये। अतः यह उपदेश किया है।

श्रीचाचागोपेशजी-आज्ञा करते हैं कि जो जीव सेवा में प्रवृत्त हो गये हैं उन भक्तिमार्गीय जीवों के दुःखों को दूर करने के उपायों की आज्ञा न होने के कारण उन दुःखों को सहन करने में धैर्य की रक्षा करनी चाहिये, धैर्य की रक्षा करने में चित्त में उद्वेग होने की सम्भावना होने से, उस चित्तोद्वेग को दूर करने को, शरण की भावना के अर्थ में इस आश्रय का निरूपण किया जाता है।

श्रीगोकुलोत्सवजीने इस विषय में कुछ भी विशेष विवरण नहीं किया है। इस प्रकार उपर्युक्त टीकाकारों का आशय उनकी टीकाओं में से ग्रहण करना उचित है।

श्री गोपेशजीने इस प्रसङ्ग में इस प्रकार विशेषता दर्शाई है कि जो आश्रय भक्ति निरूपण करनेवाला है, उसका सपरिकर निरूपण किया जाता है।

श्रीरघुनाथजी तथा श्रीगोकुलोत्सवजीने आश्रय को भक्ति को उत्पन्न करनेवाला तथा उसकी वृद्धि करनेवाला भी कहा है। इस विषय में कुछ भी विरोध नहीं है। क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी के मार्ग में वर्णन किये हुए भक्तों का स्वभाव अनेक प्रकार का होने से उन उन भक्तों की रुचि और अधिकार के अनुसार फलसिद्धि के लिये आश्रय के भिन्न भिन्न प्रकार बताये हैं।

(१) पाप में - सेवा आदि में प्रतिबन्धक पाप भाग्यवशात् आ जाँय तो चित्त में निरन्तर शरणभावना करनी चाहिये।

(२) भय में - जीव स्वयं तुच्छ होने के कारण ब्रह्मादि देवों को भी दुर्लभ भगवद्धारणरेणु मुझे किस प्रकार प्राप्त होगी ? ऐसे भय में अथवा प्रत्येक भयप्रसङ्ग में चित्त में शरण की भावना करे।

(३) कामादि की पूर्ति अपूर्ति में - अलौकिक काम जो मुख्य और अमुख्य गुण-गानात्मक मोक्षरूप है, उसकी पूर्ति के लिये, अथवा काम यानी मनोरथ पूर्ण न होने पर चित्त में शरणभावना का होना।

(४) भक्तद्रोह में - अपने कामादि की पूर्ति में, भक्तों का द्रोह हुआ हो तो, अथवा कामादि की पूर्ति अन्यत्र देखने में न आवे तो, अथवा मद से भक्त का अपमान हो जाने पर, अथवा किसी भी कारण से भक्त का अपराध हो जाने पर, चित्त में सदा शरण की भावना करे। मर्यादा में भी अम्बरीष राजा का दुर्वासा मुनिने जो अपराध किया था, उसको दूर करने को मुनिजी समर्थ न हो सके, तो पुष्टिमार्ग में भक्तद्रोहरूपी अपराध हो जाने पर तो वह कैसे दूर हो सकेगा ? ऐसा भक्तद्रोहरूपी

अपराध न हो इसलिये यह उपदेश किया गया है।

(५) भक्ति के अभाव में - स्वयं अपने को या अपने आत्मियों को उत्कट भक्तिभाव प्राप्त न हो अथवा दुःसंग आदि से भक्ति का नाश हो जाने पर चित्त में सदा शरण की भावना कर्तव्य है।

(६) भक्तकृत अतिक्रमण में - यदि कोई भक्त अपमान करे तो उस को सहने के अर्थ में यह उपदेश किया है। भक्त कदापि निमित्त के बिना ही किसी का अपमान नहीं करते हैं, तथापि यदि अपमान कर बैठे तो अपने में ही कुछ दोष है ऐसा मानकर अपने दोषों को दूर करने का प्रयत्न करने के लिये चित्त में शरण भावना होनी आवश्यक है।

(७) अशक्य और सुशक्य में - अपने से न बन सके तथा बन सके ऐसे सब कामों में चित्त में निरन्तर मनसा, वाचा और कर्मणा शरण की भावना ही करता रहे। सुसाध्य कार्यों में भगवान् का स्मरण करने का कारण यह है कि उस कार्य में भी मैंने किया ऐसा अभिमान न हो।

इस प्रकार विस्तारपूर्वक यह उपदेश किया है। विवेक के बिना भी असहाय शूर के आश्रय के द्वारा ही सर्व कार्य सिद्ध होते हैं ऐसा दर्शाया है।

(८) अहङ्कार में - अहङ्काररूपी दोषों को दूर करने में शरणभावना है। अहङ्कार जैसे मद आदि में भी शरण की भावना को न भूल जाय। कारण भावना के बिना अन्य कोई भी उपाय साधक नहीं है।

(९) पोष्यों के, पोषण और रक्षण में - पालन करने योग्य कुटुम्बियों का पोषण और उनकी रक्षा के कार्य को करने से सेवा में प्रतिबन्ध होता है, इसी तरह कुटुम्ब का पोषण और रक्षण सेवापरायण भक्त से नहीं हो सकता है, अतः भक्तों के चित्त में क्लेश होता है। वह दूर करने के लिये शरण की भावना करनी योग्य है।

(१०) पोष्यवर्ग के अतिक्रमण में - पोष्य का अर्थ है। जो भरणपोषण करने योग्य हैं। जिनका निवेदन हो चुका है ऐसे पोष्यों (स्त्रीप्रभृति) से यदि अपमानित होना पड़े, अथवा अपने से उनका तिरस्कार हो जाय तब भी शरण भावना ही उचित है। क्योंकि आसुरभाव के बिना तिरस्कार का सम्भव नहीं है। उन व्यक्तियों में स्थित आसुरभावको दूर करने के लिये उपायान्तर की योजना न करके सदा शरण की भावना ही करे।

(११) विद्यार्थी के अतिक्रमण में - यदि कोई विद्यार्थी अतिक्रमण करे तो उसके ऊपर किये हुए उपकार का स्मरण करके गर्व न करे, किन्तु शरणभावना करे। गर्व से अनिष्ट होने की सम्भावना है, अतः उसकी निवृत्ति के अर्थ यह अलग उपदेश किया है।

(१२) अलौकिक मनःसिद्धि में - "मन दो प्रकार का है। शुद्ध और अशुद्ध। कामसङ्कल्पयुक्त मन अशुद्ध है और कामरहित शुद्ध है।" इस श्रुति से कामसङ्कल्परहित शुद्ध मन सेवा और आश्रय में अनुकूल होता है। अतः चित्त में शरण भावना करे।

(१३) सर्व अर्थ में - पुष्टिमार्गीय सर्व पुरुषार्थों को सिद्ध करने के लिये अतिदीन-भाव से श्रीहरि की शरण विचारणीय है।

इस प्रकार शरण का उपदेश देकर उसकी रक्षा का प्रकार कहते हैं - चित्त में शरणभाव होने से भगवान् आश्रय कराते हैं। आश्रय होने के पश्चात् क्षणमात्र के लिये भी आसुरावेश नहीं होता है। वाणी से बार बार शरण का रटन करने से शरणमार्ग का प्रचार होता है। अतः "श्रीकृष्णः शरणं मम" इस मंत्र का रटन निरन्तर करते रहना चाहिये। अन्य का भगवान् से अतिरिक्त का भजन नहीं करना चाहिये। अन्य देवों की किसी भी कामना की दुराशा से पूजा न करे तथा उनके पास प्रयत्नपूर्वक गमन भी न करे। भगवान् अनन्य भक्तवत्सल हैं। जबतक अन्याश्रय रहता है तबतक भगवान् जीव को कृपा की दृष्टि से नहीं देखते। अन्याश्रय में भगवान् अपने आश्रय का दान भी नहीं करते। अम्बिकावन में कौतुकयुक्त चित्तसे श्रीनन्दबावा गये थे, वहाँ अन्याश्रय होने से सर्प का ग्रास होना पडा था। मार्ग में यदि देवालय आ जाय तो उसकी अवगणना न करनी चाहिये। क्योंकि सर्व देवतागण भगवान् के अधीन होकर उनके अवयवरूप हैं। अन्य देवों के पास प्रार्थना भी न करे और यदि कदाचित् प्रार्थना करने की आवश्यकता पड जाय तो एकादबार भगवान् से ही प्रार्थना करे, परन्तु देवतान्तर के पास नहीं।

प्रार्थना का अर्थ

श्रीरघुनाथचरण प्रार्थना का अर्थ इस प्रकार करते हैं-प्रत्येक कार्य में भगवान् की विज्ञप्ति करे कि हे भगवन् ! हम विवाहादि कार्यों का प्रारंभ करें ? इस प्रकार प्रार्थना करने की प्रथा विष्णुधर्म की शंकरगीता में भी है। "भगवान् की प्रार्थना के बिना जो भक्त किसी भी कार्य का प्रारम्भ नहीं करता वह भगवान् की मर्यादा का

लोप नहीं करता है, उसके ऊपर श्रीकेशव प्रसन्न होते हैं" इस प्रकार आश्रय का अर्थ विज्ञापन होने से पूर्व ग्रन्थ के साथ विरोध न आवे उस प्रकार विचार किया गया है। याचना को व्यवहार में "यह मुझे दो" इस प्रकार विचारपूर्वक होनेवाले व्यापार को प्रार्थना कहते हैं। किसी भी कारण के बिना, किसी भी प्रकार की इच्छा के बिना, अपनी ज्ञात वस्तु का स्वरूपकथन ही विज्ञापन है। इस प्रकार प्रार्थना एवं विज्ञापन के स्वरूप का भेद होने से तथा भगवान् के समीप इस प्रकार के विज्ञापन से स्वामी की अधीनता की भावना की स्फूर्ति होनेसे, विवेक की भी रक्षा होती है, अतः विज्ञापन अर्थ योग्य ही है। भगवान् कार्य करने की आज्ञा प्रदान करने में विलम्ब करे, तब धैर्य की आवश्यकता रहती है, धैर्य के लिये आश्रय की आवश्यकता होने से, आश्रय के दृढ होते ही भक्त में शीघ्र ही अपना कार्य सिद्ध करने की शक्ति आजाती है। भगवान् के पास प्रार्थना करने की आज्ञा है, किन्तु यह अन्य देवों के पास करने का निषेध है। अतः प्रार्थना और विज्ञापन अन्य देवों के प्रति न करे। साथ ही अन्य देवों के प्रति प्रार्थना करने का मन से विचार भी न करे। इस प्रकार कायिक आश्रय कहा।

अविश्वास दूर करो

अब इन सब की सिद्धि के अर्थ बाधक के त्याग का निरूपण करते हैं। स्वरूपतः एवं फलतः अविश्वास सर्वथा बाधक है। अज्ञ एवं संशयग्रस्त पुरुष नाश को प्राप्त होता है। संशय न होने के लिये ब्रह्मास्त्र एवं चातक की भावना करनी चाहिये, अर्थात् अविश्वास की बाधकता में ब्रह्मास्त्र का दृष्टान्त है, एवं विश्वास में चातकपक्षी दृष्टान्तरूप है। इन दोनों के वृत्तान्त का स्मरण करे। जब राक्षसोंने हनुमानजी को लंका में ब्रह्मास्त्र से बाँध के रावण के सम्मुख उपस्थित किया तब हनुमानजी को चेष्टा रहित देखकर भी कच्चे डोरों से बाँधा हुआ जानकर ब्रह्मास्त्र पर अविश्वास कर लोहे की सांकलों से बाँधने का प्रयास करते ही ब्रह्मास्त्र निवृत्त हो गया और हनुमानजी लोहशृङ्खलाको तोडकर मुक्त हो गये। इस प्रकार ब्रह्मास्त्र बाँधने का प्रयास ही व्यर्थ हुआ। इसी प्रकार यहाँ भी अविश्वास होने पर भगवान् भी फल का त्याग करते हैं। शरणरूप भक्तिमार्ग में किया हुआ प्रयास भी अविश्वास से व्यर्थ ही हो जाता है।

चातकपक्षी एक वर्षतक स्वातिविन्दु के लिये विश्वासपूर्वक राह देखता है, अतः प्रभु उस के लिये अवश्य ही स्वाति में जल बरसाते हैं। अत एव श्रीमदाचार्यचरणों की वाणी में-भगवच्छरणागति में विश्वास होने से सब कार्य सिद्ध

होते हैं। तात्पर्य यह है कि अविश्वास का त्याग कर प्रभु में दृढ विश्वास रखने से, जो कुछ भी भगवदिच्छा से प्राप्त हुआ हो उसी में सन्तोष मानकर ममता रहित, सेवा करनी चाहिये। लौकिक ममता का त्यागकर यदृच्छा से प्राप्त होनेवाले सुखदुःख एवं साधनों का अनुभव कर उनमें लेशमात्र भी आसक्त न हो।

लौकिक में अनासक्त होकर निर्वाह किसप्रकार किया जाय, वह भी कहते हैं। सेवा एवं लौकिक के कार्य करता रहे। हर्ष के आवेश में एवं दबाव से ऋण लेकर लौकिक कार्य न करे। तथापि यदि इस तरह भी लौकिक कार्य करने ही पडे तो, प्रभु की शरण की भावना करे। क्योंकि; काल, कर्म, स्वभाव, सङ्ग एवं देश आदि के बन्धन से लौकिक कार्य अनिवार्य ही हो, तब उन सबके परिहार के लिये भिन्न भिन्न अनेक साधन करना सम्भव नहीं है, अतः पूर्वोक्त मुख्य साधन श्रीहरि की शरण ही श्रेष्ठ है। गीता के शरणोपदेश एवं भागवत के एकादशस्कन्धोक्त वाक्यों से शरण सिद्ध होती है। शरणागत ब्रजभक्तों में, सत्यव्रतराजा में और सप्तर्षियों में शरण से ही सर्वकार्य की सिद्धि देखी गई है। अतः शरण ही मुख्य साधन है। इससे यह भी निश्चित होता है कि शरण असहायशूर है।

उपसंहार

इस प्रकार उपदेश देकर उपसंहार करते हैं। आश्रयरूपी शरणमार्ग का निरूपण विवेक एवं धैर्य सहित किया गया। उसका स्वरूप वर्णन भी किया गया। वह शरण सभी वर्ण एवं आश्रमों के लिये सर्वदा सर्वयुग में, सुखदुःखों में भी अधिकारानुसार हितकर है। "मेरा आश्रय करनेवाले पापी जीवों का भी उद्धार करता हूँ।" इस भगवद्वाक्य से ज्ञात होता है कि शरण सभी का उद्धार करता है।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥१७॥

कलियुग में भक्त्यादिमार्ग दुःसाध्य हैं, ऐसा मेरा अभिप्राय है।

कलि में सब मार्ग नष्ट हो चुके हैं।

भगवान् ने श्रीमद्भागवत के एकादशस्कन्ध में जीव के कल्याण के लिये कर्म, ज्ञान एवं भक्तिमार्ग ये तीन मार्ग क्यों बताये हैं? इसका उत्तर देते हुए आज्ञा करते हैं कि कलियुग में भक्त्यादिमार्ग नष्ट हो चुके हैं, अर्थात् दुःसाध्य हैं। क्योंकि उनको साधन की अपेक्षा है, अत एव उनको एक पङ्क्ति में कहा है। और शरणमार्ग स्वतन्त्ररूप से कहा गया है। इस भगवदाश्रय का उत्तम रहस्य श्रीमदाचार्यचरणों को ज्ञात है, अत एव वे अपनी सम्मति भी प्रदान करते हैं। इस विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थ के

अनुकूल रह कर भगवदाश्रय करनेवाले जीव को अवश्य सब तरह से आश्रय सिद्ध होता है। भगवान् उस भक्त को आश्रय का दान करते हैं।

अपनी कान्ति से मेघद्युति का भी तिरस्कार करनेवाले, श्रीयमुनाजी के तटपर वेणुरव को रचनेवाले, सुन्दर रास के कर्ता ब्रजनायक को हे मदीय मन ! तू निरन्तर विचार। यह विवेकधैर्याश्रय की विवृति यथामति की है। इससे श्रीमदाचार्यचरण मेरे उपर प्रसन्न होंवें। जैसे बालक की चपलता माता पिता के हर्ष के लिये होती है वैसे ही मैंने भी श्रीमहाप्रभुजी का होने के कारण कुछ धृष्टता से लिखा है वह सब उनकी प्रसन्नता के लिये हो।

इति श्रीमदाचार्यचरणैकतानश्रीशामलालसुत-
श्रीब्रजराजविरचितविवेकधैर्याश्रयविवृतिका
हरिशङ्कर ओङ्कारजी शास्त्रीकृत अनुवाद सम्पूर्ण।

